



शब्दों के अर्थ-परिवर्तन की दिशाएँ: संस्कृति और अर्थविज्ञान के परिपेक्ष में

हसंति प्रेमलिलक

शोधार्थी, हिंदी अध्ययन विभाग, कॅलणिय विश्वविद्यालय, श्रीलंका

सारांश

भाषा संस्कृति का प्रधान वाहक होता है— यह मानव वैज्ञानिकों और भाषा वैज्ञानिकों द्वारा माना गया मत है। भाषा शब्द-समूह के द्वारा बनी गयी है जो उस भाषा की संस्कृति का प्रतिनिधित्व करती है। हर भाषा एक भाषा प्रणाली में चली आती है। उदाहरण के लिए हिंदी भारोपीय भाषा परिवार की भारत-ईरानी शाखा की भाषा है और उसकी मातृ भाषा संस्कृत है। इसलिए हिंदी में संस्कृत के तत्सम और तद्भव शब्द अधिक मात्रा में पाये जाते हैं, फिर भी उनका पूरी तरह मूल अर्थ में प्रयोग नहीं होते। उसका कारण यह होता है कि भाषा के जीवी शब्दों के अर्थ, भाषा के प्रयोग में परिवर्तन होते हैं। वह परिवर्तन उस विशिष्ट भाषा की संस्कृति के बदलावों के अनुसार होता है। मानव-विज्ञान और भाषा-विज्ञान की दृष्टि से ऐसे शब्दों के अर्थ-परिवर्तन किन-किन दिशाओं में होती हैं— इस विषय की चर्चा करना भाषावैज्ञानिक मानवविज्ञान (Linguistical Anthropology) नये विषय का एक आयाम है। यह आलेख हिंदी के शब्दों के अर्थ-परिवर्तन की दिशाएँ उदाहरण सहित अभिव्यक्त करने का प्रयास करता है।

मूल शब्द: अर्थ-परिवर्तन, अर्थविज्ञान, भाषा और संस्कृति, हिंदी, शब्द

प्रस्तावना

अर्थ-परिवर्तन या अर्थ-विकास, अर्थविज्ञान का एक क्षेत्र है, जिसमें भाषा-विकास के अनुसार शब्दों के अर्थ बदलने की दिशाओं और उसके कारणों की चर्चा की जाती है। इस विषय-क्षेत्र का संबंध व्याकरण से ज़्यादा शब्द-समूह से होता है जो भाषाविज्ञान का एक प्रमुख अंग है और वह भाषा विज्ञान का एक नया विषय भी है। यद्यपि प्राचीन भारतीय अलंकार शास्त्रियों द्वारा वाच्यार्थ-परिवर्तन के कारण विभाजित किये गये हैं, तथापि उन्हें वाक् परंपरा और उपाम-रूपक आदि अर्थालंकारों में सीमित रखने के कारण वे भाषाविज्ञान के अंग नहीं, साहित्य के अंग बन गये हैं। इसकी वजह से साहित्य के उपमा, रूपक, व्यंग, वक्रोक्ति आदि के नामों से वाच्यार्थ-परिवर्तन के विविध दिशाएँ और क्रम समझाये जाते हैं।

19 वीं शताब्दी में भाषाविज्ञान के विकास के साथ-साथ विद्वान अर्थ-परिवर्तन का विषय साहित्य से अलग करके उसे वैज्ञानिक दृष्टि से देखने लगे। साथ-साथ इस विषय पर शोध कार्य होने लगे। सबसे पहले फ्रांसीसी भाषावैज्ञानिक मिशेल बीएल ने सन् 1897 में अर्थ-परिवर्तन के विषय पर अपनी पुस्तक 'एसे दी सीमेंटिक' की रचना की। बाद में अनेक पाश्चात्य विद्वान उसपर अपने विचार करने लगे।

अर्थ-परिवर्तन के नियम बताना एक मुश्किल कार्य है, क्योंकि मनुष्य अपनी अनेक सारी मनोवृत्तियों के अनुसार शब्दों का प्रयोग करते हैं और मनुष्य के मनोभाव किसी नियम के अनुसार नहीं चलते। वैसे ही संसार की सभी वस्तुएँ परिवर्तनशील हैं। जिस प्रकार ध्वनियों में परिवर्तन होता है, उसी प्रकार भाषा के शब्दों और उसके अर्थों में भी परिवर्तन हो जाता है। शब्द और उसके अर्थ का विकास-क्रम शब्दों के प्रयोग के ऐतिहासिक विकास पर प्रकाश डालने पर ढूँढ़ निकाला जा सकता है, जबकि वह भी कभी-कभी पूरी तरह विवरण देने में असमर्थ हो जाता है।

शब्द का अर्थ परिवर्तन संस्कृति के परिवर्तन के साथ-साथ होता है। मनुष्य एक सांस्कृतिक प्राणी है। मानव की संस्कृति में विकास और परिवर्तन होते रहते हैं। संस्कृति मानव की पैतृक संपत्ति नहीं है। भाषा की तरह संस्कृति का ग्रहण करना भी इस प्रकार की प्रक्रिया है कि व्यक्ति जहाँ रहता है और जिस परिस्थिति का अनुभव करता है, वहाँ की संस्कृति अपनाता है। उसका मतलब यह है कि संस्कृति का निर्माण करना मनुष्य के लिए स्वाभाविक है, किंतु संस्कृति स्वयं मानव की कृति है और व्यक्ति संस्कृतिकरण की प्रक्रिया द्वारा उसे अपनाता है। सभी प्राणी अपनी-अपनी संस्कृति बना लेते हैं। मनुष्य की संस्कृति उनमें से सबसे आगे इसलिए सुविशेष खड़ी रहती है क्योंकि मनुष्य की संस्कृति में 'भाषा' नाम का अतुलित सांस्कृतिक अंग शामिल है।

यह निश्चित रूप से जानना आवश्यक है कि मानव भाषा के मूल तथ्य क्या थे। उस बात का अनुमान करने के लिए मानव का जीवी विकास, उसकी संस्कृति तथा सांस्कृतिक विकास का अध्ययन करना महत्वपूर्ण है, क्योंकि भाषा ही संस्कृति का प्रतिनिधित्व करता है जो हमें जो हम प्रत्यक्ष रूप से देख सकते हैं। अर्थात् भाषा और संस्कृति आपस में जुड़ी हुई है। एक विशेष भाषा आमतौर पर किसी विशिष्ट जन-समुदाय को इंगित करती है। जब व्यक्ति अपनी मातृभाषा से अलग किसी अन्य भाषा में बातचीत करता है, तो उसका मतलब है कि वह व्यक्ति उस विशिष्ट संस्कृति को संबोधित करता है और उसके साथ संपर्क बनाता है। इसलिए हम किसी भी संस्कृति की मूल भाषा जानने के बिना उस संस्कृति को पूर्ण रूप से नहीं समझ सकते।

'भाषा' के बिना समाज और सामूहिक-समझ का कोई विकास नहीं होता। उदाहरण के लिए परिवार एक मौलिक और मुख्य सामूहिकता है, जिसमें भाषा की बहुत बड़ी भूमिका होती है। परंपरा, कथाकारिता, रीति-रिवाज, त्योहार, मूल्य और धर्म आदि प्रत्येक संस्कृति के तमाम आयाम हैं। इन सभी का निर्माण भाषा के माध्यम से ही होता है और समाज की ये

सभी सामूहिकताएँ कहीं-न-कहीं संस्कृति का निर्माण करती हैं। उदाहरण के रूप में, भारत में हर जगह मनानेवाली होली, दीपावली आदि त्योहारों के अवसर पर उसकी परंपरा और रीति-रिवाजों में भाषा का बहुत बड़ा योगदान है। भारतीय संस्कृति में विशेषतः ध्वनि का बहुत महत्व है। उस महत्व के कारण ही हिंदी में स्वर और व्यंजन का दुनिया का सबसे विकसित स्वरूप देखने को मिलता है। उसका मतलब यह है कि देवनागरी लिपि ध्वनिविज्ञान की दृष्टि से सबसे विकसित लिपि मानी जाती है। वह इसके परिणामस्वरूप हुआ कि वैदिक काल में यह मान्यता थी कि मंत्रों के सामूहिक उच्चारण से मनुष्य-जीवन पर महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। मंत्रोच्चारण में गंभीर और खंडित ध्वनियाँ अधिक मात्रा में पायी जाती हैं। इस प्रकार सांस्कृतिक बदलाव के साथ भाषा में नये-नये शब्दों का निर्माण निरंतर होता रहता है। जैसे-जैसे संस्कृति में नयी-नयी बातें आती हैं, वैसे-वैसे नये शब्द बन जाते हैं और उसके कारण भाषा में परिवर्तन होते रहते हैं। जिस मात्रा में भाषा विकसित होती है, उसी मात्रा में वह संस्कृति को अभिव्यक्त होने में मदद करती है, क्योंकि मनुष्य ऐसा प्राणी नहीं है जो केवल प्राकृतिक वातावरण में पलता है। वह अपने और अपने पूर्वजों द्वारा बनायी गयी एक विशिष्ट संस्कृति में जीवन बिताता है। मनुष्य की आवश्यकताओं के अनुसार ही भाषा का विकास और उसमें परिवर्तन होता है।

अर्थ-परिवर्तन की दिशाएँ

इस बात का अध्ययन करना महत्वपूर्ण है कि किन-किन दिशाओं में किसी शब्द के अर्थ में परिवर्तन हो सकता है। हिंदी के तत्सम शब्दों पर ध्यान देने से यह देख सकते हैं कि शब्द के अर्थ परिवर्तन की दिशाओं को 7 भागों में विभाजित किया जा सकता है।

1. अर्थ-विस्तार
2. अर्थ-संकोच
3. अर्थादेश
4. अर्थोपकर्ष
5. अर्थापकर्ष
6. अर्थ-विरोध
7. अर्थानाश

अर्थ-विस्तार

जब शब्दों का अर्थ सीमित एवं संकुचित क्षेत्र से निकलकर स्वतः रूप से अधिक विस्तृत हो जाता है, तब उसे 'अर्थ-विस्तार' कहा जाता है। कुछ शब्द मूल रूप में किसी विशेष या संकुचित अर्थ में प्रयुक्त होते थे। बाद में उनके अर्थ का विस्तार हो गया। अर्थात् अर्थ-विस्तार की ओर प्रवृत्ति होने से एक शब्द अपने मौलिक अर्थ से परिवर्तित होकर उसके बाद नाना अर्थों में प्रयुक्त होने लगता है। अर्थ-विस्तार किस प्रकार होता है? — इस विषय पर संस्कृत के महान कवि भर्तृहरि ने लिखा है कि किसी समानता के आधार पर अर्थ का तदनु रूप प्रतिपादन होता है

उदाहरण के लिए संस्कृत का एक शब्द है 'तैल', जिसका मूल अर्थ था 'तिलों से निकलने वाले द्रव' जो इसका व्युत्पत्तिमूलक अर्थ था। हिंदी आदि आधुनिक भाषाओं का 'तेल' शब्द इसी 'तैल' शब्द से विकसित हुआ है, किंतु उसका अर्थ विस्तृत हो गया है। अब हर प्रकार के बीज से निकलने वाला द्रव 'तेल' हो गया है, जैसे— सरसों का तेल, मूँगफली का तेल, बादाम का तेल आदि। 'गवेषणा' शब्द प्रारंभ में 'गाय-चाहना' यानी 'गाय की इच्छा' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ, फिर इसका अर्थ 'गय ढूँढना' में परिवर्तन हुआ। अब उन पहले अर्थों में से 'गाय' अर्थ को छोड़कर केवल 'ढूँढना' या 'खोजना' अर्थ रह गया। वर्तमान में 'शोधकार्य' के अर्थ में 'गवेषणा' शब्द का प्रयोग करते हैं।

उस प्रकार शब्दों के प्रति प्रत्येक जनसमुदाय के व्यवहार के आधार पर शब्दों के अर्थ विस्तृत होने की संभावना होती है। उदाहरण के लिए संस्कृत में 'विहार' शब्द का अर्थ 'विचरण करना' और 'टहलना' था। पाली में वही शब्द 'निवास स्थान के बाहुल्य' के अर्थ में बराबर के प्रयोग में आ गया और आज किसी प्रांत के 'बौद्ध विहारों' को परिचित करने के लिए 'विहार' शब्द का प्रयोग किया जाता है।

'गोष्ठ' शब्द का मुख्यार्थ था 'गाय के रहने का स्थान', परंतु साम्यमूलक अर्थ-विस्तार से 'गोष्ठ' शब्द का अर्थ 'रहने का स्थान' रह गया और इसमें विशेष 'गो' शब्द का अर्थ लुप्त हो गया। अतएव आज 'गोष्ठ' शब्द को 'स्थान' शब्द का पर्यायवाची के रूप में प्रयोग करते हैं और 'गाय के रहने की जगह' के लिए 'गौशाला' नाम का एक समास शब्द भाषा में आ गया है। संस्कृत के 'कुशल' शब्द का अर्थ था 'कुश लाना' या 'उखाड़ना'। कुश का अग्रभाग तीक्ष्ण होता है। उससे हाथ को छेदने या कटने का भय है। अतः कुश लाने की क्रिया 'चतुरता' का सूचक थी। उस अर्थ को लेकर 'तीक्ष्ण बुद्धि' को 'कुशाग्रबुद्धि' कहा जाता है। यह शब्द धीरे-धीरे कुश लाने का अर्थ छोड़कर 'चतुर' या 'निपुण' का अर्थ देने लगा। इस प्रकार 'कुशल' शब्द के अर्थ का विस्तार हो गया, जैसे— 'वह शास्त्रों में कुशल है', 'वह खेलने में कुशल है' आदि।

'अभ्यास' शब्द पहले 'बाण को बार-बार चलाने' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ। आजकल 'सभी प्रकार के कार्यों को बार-बार करने' के अर्थ में 'अभ्यास' शब्द का प्रयोग होता है। 'प्रवीण' शब्द का प्रयोग पहले 'वीणा बजाने में कुशल व्यक्ति' के लिए होता था। अब 'किसी भी कार्य में कुशल व्यक्ति' को 'प्रवीण' शब्द से पहचाना जाता है। 'पत्र' शब्द 'पेड़ के पत्ते' के अर्थ से ही नहीं, बल्कि 'चिट्ठी', 'समाचार-पत्र' आदि अर्थों में भी व्यवहार होता है।

अर्थ-संकोच

यह अर्थ-विस्तार का ठीक उल्टा है। अर्थ-विस्तार के विपरीत कुछ शब्दों के अर्थ का संकोच होता है और उनका विस्तृत अर्थ संकुचित या सीमित हो जाता है। अर्थात् जब अर्थ-विस्तार को छोड़कर किसी शब्द का अर्थ सीमित क्षेत्र में प्रयुक्त होता है, तब उसे अर्थ-संकोच कहा जाता है।

उदाहरण के लिए संस्कृत के 'मृग' शब्द का मूल अर्थ 'साधारण पशु' था। पशुओं के राजा सिंह के लिए 'मृगराज' शब्द के प्रयोग में भी मूल 'पशु' अर्थ सुरक्षित हुआ है, किंतु आगे चलकर इस शब्द का अर्थ संकुचित हो गया और आज 'मृग' शब्द केवल 'हिरन' का वाचक है। पुरानी फारसी भाषा में भी 'मृग' शब्द का अर्थ, अर्थ-संकोच के कारण परिवर्तित हो गया है। पहले फारसी में 'मृग' का अर्थ था 'पक्षी'। लेकिन हिंदी, वंग आदि आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं में फारसी तद्भव शब्द 'मुर्गा' का प्रयोग 'मुर्गा पक्षी' के अर्थ में होता है, जैसे- मुर्गा, मुर्गी, मुर्गे के अंडे आदि।

संस्कृत में 'दायद' का अर्थ था 'पैतृक बँटवारे में मिला धन'। आज हिंदी में 'दायाद' शब्द का प्रयोग प्रायः 'कन्या के विवाहावस्था पर उसके माँ-बाप द्वारा वरपक्ष को दिया जाने वाला धन' या 'दाय का अधिकारी' के अर्थ में प्रचलित हो गया है।

'धेणु' शब्द पहले 'दूध देने वाले प्रत्येक पशु' का वाचक था। बाद में अर्थ-संकोच होने के कारण 'गाय' अर्थ शेष हो गया। वेदों में 'पशु' शब्द का अर्थ बहुत व्यापक है। शतपथ ब्राह्मण ने पाँच पशुओं में मनुष्य का भी उल्लेख किया है। यजुर्वेद में अग्नि, वायु और सूर्य के लिए भी 'पशु' शब्द का प्रयोग हुआ है। लेकिन आज इसका अर्थ केवल 'गाय, कुत्ता आदि पशु' ही रह गया है।

'नेत्र' शब्द का अर्थ था 'चमकनेवाला', 'प्रकाश करनेवाला', 'आगे चलनेवाला', 'ले जानेवाला'। बाद में 'नेत्र' शब्द का प्रयोग सिर्फ 'आँख' के अर्थ में करने लगा।

पारिभाषिक शब्द जो एकार्थ में किसी शास्त्र के उपयोग में व्यवहृत हैं- अर्थ-संकोच का परिणाम हैं। प्रत्येक शास्त्र के अध्ययन करते समय एक शब्द का केवल एक वैज्ञानिक अर्थ लिया जाता है, वरना प्रचलित और व्यावहारिक अर्थ नहीं। उदाहरण के लिए व्याकरण-शास्त्र में 'आगम' शब्द का अर्थ है 'किसी वर्ण की वृद्धि', फिर भी अन्यत्र उसका अर्थ 'शास्त्र', 'आवाई' या 'आगमन' है।

सभी प्रकार के नामकरण भी अर्थ-संकोच के उदाहरण हैं। प्रत्येक संज्ञा अपने यौगिक अर्थ के अनुसार बहुत व्यापक अर्थ का बोध कराती है। अतएव नामकरण के मूल में अर्थ-संकोच का प्रभाव होता है। जो नाम जिस भाव को दे देता है, वह नाम उस अर्थ में रूढ़ हो जाता है और आगे उससे यौगिक अर्थ का बोध नहीं होता। उदाहरण के लिए प्राणियों तथा व्यक्तियों के जिन नामों के यौगिक अर्थ प्रचलन में नहीं होते, वे अर्थ की दृष्टि से रूढ़ होते हैं।

अर्थादेश

अर्थ-परिवर्तन की यह पर्याप्त महत्वपूर्ण प्रवृत्ति है। इसमें यह क्रिया हो जाती है कि शब्द का मूल अर्थ तो लुप्त हो जाता है, फिर कोई नया अर्थ शब्द के साथ जुड़ जाता है। इस प्रकार एक अर्थ के लोप होने तथा नवीन अर्थ के सामने आ जाने को 'अर्थादेश' कहा जाता है। अर्थात् 'अर्थादेश' का तात्पर्य अर्थ में इतना अधिक अंतर होने से है कि मौलिक अर्थ खतम ही होकर दूसरा अर्थ उसकी जगह आ जाय।

उदाहरण के लिए संस्कृत के 'दैव' शब्द का ठीक उल्टा अर्थ ईरानी के 'दैव (देव)' शब्द से मिलता है। ऋग्वेद के कुछ पुराने भागों में 'असुर' शब्द का प्रयोग 'देवता' के अर्थ में हुआ है और इसी अर्थ में ईरानी भाषा में भी (अहुर) प्रयुक्त हुआ है। बाद में संस्कृत का यही शब्द 'राक्षस', 'दैत्य' आदि अर्थों का द्योतक हो गया और 'अ' उपसर्ग निषेधात्मक समझकर 'सुर' शब्द 'देवता' के अर्थ में ले गया।

'दूहितृ' शब्द का अर्थ 'दुहनेवाली' था जो वर्तमान में पूर्णतः लोप हो गया है। उसका प्रयोग अब 'कन्या' के लिए करते हैं। 'मौन' शब्द पहले 'मुनियों के विरुद्ध आचरण' के अर्थ में प्रयोग होता था। अब उसके बदले 'मौन' शब्द के अर्थ के रूप में 'चुप्पी साधन' प्रतिष्ठित हुआ है।

पहले 'वर' शब्द का मुख्य अर्थ 'श्रेष्ठ' था और गौण अर्थ 'दूल्हा' था। वर्तमान में 'वर' शब्द का प्रयोग 'दूल्हा' के अर्थ में ही किया जाता है।

अर्थोपकर्ष

यदि किसी शब्द का वर्तमान में प्रयुक्त अर्थ, पहले अर्थ की तुलना में उच्च या उत्कर्ष रूप से उपयोग किया जाता है, तो उसे 'अर्थोपकर्ष' कहा जाता है।

उदाहरण के लिए संस्कृत की मूल अवधि में 'वीर' शब्द 'साधारण आदमी' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ, परंतु बाद में वह शब्द 'वीरता से युक्त किसी आदरणीय व्यक्ति' के लिए व्यवहार होने लगा।

'गौ' शब्द अनेकार्थी शब्द है जो 'भूमि', 'जिह्वा', 'सूर्य-चंद्र', 'मांस', 'चर्म' आदि अनेक अर्थों में विस्तार हो गया है। इसलिए 'गौ' शब्द में अर्थोपकर्ष की विशेषता उपलब्ध होती है। प्राचीन काल में 'गाय' को 'माता', 'देवी' आदि शब्दों से पुकारा गया है और उसका शरीर सभी देवताओं का निवास-स्थान माना गया है। 'गोलोक' सभी लोकों से ऊपर माना है, जहाँ विष्णु निवास करते हैं।

अर्थापकर्ष

यदि किसी उच्च विचार या सामान्य विचार का अर्थ देने के लिए उपयोग किया गया शब्द बाद में कम विचार को प्रकट करने के लिए उपयोग किया जाता है, तो वह अर्थापकर्ष कहा जाता है।

उदाहरण के लिए हिंदी के 'गाँव' और गुजराती के 'गमार' शब्द का पहले 'गाँव में रहने वाला आदमी' के अर्थ में प्रयोग हुआ, जबकि आज वे शब्द 'मूर्ख' या 'बुद्धू आदमी' के अर्थ में प्रचलित हो गये हैं।

'नग्न-लुचित' का अर्थ था, 'जैन धर्म के परम आदरणीय संत या मुनि गण'। वर्तमान में उसका अर्थ 'नंगा' और 'लुच्चा' हो गया है।

बहुधा शब्दों से स्पष्ट हो जाता है कि संस्कृत के तत्सम शब्दों में अधिक आदर और गौरव का भाव झलक आता है और उनकी अपेक्षा में तद्भव शब्दों में कम। उदाहरण के लिए 'गर्भिणी' शब्द 'गर्भवती स्त्री' या 'मानुषी' के अर्थ में जाना जाता है और उसका तद्भव शब्द 'गाभिन' का अर्थ है, 'मादा पशु, जिसके पेट में बच्चा हो'। 'ब्राह्मण' का अर्थ 'शिक्षित, ज्ञानी

और पूज्य व्यक्ति' है। उससे विकृत 'बाम्हण' का अर्थ, 'सभी प्रकार के पढ़े-लिखे व्यक्ति' होता है। 'स्तन' का अर्थ 'स्त्री के पयोधर' है। उसके तद्भव शब्द 'थन' का अर्थ हुआ 'गाय के स्तन'।

अर्थ विरोध

शब्द के किसी अर्थ का प्रयोग पहले होता था और बाद में उसका पूरी तरह विपरीत अर्थ से प्रयोग होने लगा, तो ऐसे तत्त्व को 'अर्थ विरोध' कहा जाता है। इस प्रकार के शब्द भाषा में कम पाये जाते हैं।

अर्थानाश

'अर्थानाश' से अभीष्ट है कि शब्द के मूल अर्थ का अवरोह या पतन हो जाना अथवा अर्थ का पूरी तरह विनाश होकर अर्थशून्य हो जाना। यह भाषा की एक आम विशेषता है कि भाषा-विकास में कुछ शब्द के ध्वनि और अर्थों के क्रम में पतन होकर भाषा से गायब हो जाता है। ऐसी स्थिति में शब्दों के ध्वनि-परिवर्तन से शीघ्र अर्थ-परिवर्तन हो जाता है।

निष्कर्ष

अर्थ-परिवर्तन की इन दिशाओं के अध्ययन के उपरांत स्पष्ट होता है कि प्रत्येक शब्द का अर्थ सदैव एक ही स्थिति में नहीं रहता। भाषा के शब्दों में समय-समय पर उपर्युक्त प्रकारों से अर्थ-परिवर्तन अवश्य हो जाता है। शब्दों का अर्थ-निर्धारण वक्ता की इच्छा के अनुसार होता है। वक्ता जब एक ही शब्द का अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए विभिन्न रूपों से प्रयोग करता है, तब शब्द के अर्थ में अंतर उत्पन्न हो जाते हैं और उन परिवर्तित अर्थों का लगातार प्रयोग करने से वे भाषा में स्थिर हो जाते हैं।

साथ-साथ प्रत्येक शब्द उस भाषा में विशेष कार्य करता है और प्रत्येक शब्द उस भाषा में अपना महत्व रखता है, क्योंकि उन विशिष्ट शब्दों द्वारा ही उस संस्कृति का निर्माण किया जाता है। मानो भाषा और संस्कृति दो समानांतर रेखाओं पर लगातार अपनी यात्रा चलती हैं। भाषा से ही संस्कृति को समाज में उभर आता है। भाषा के विकास की दिशा संस्कृति द्वारा निर्धारण की जाती है। किसी सांस्कृतिक शब्द के शुद्ध अर्थ को केवल उस संस्कृति की भाषा से अभिव्यक्त होता है। उस शब्द का अंतर्निहित संदर्भ किसी दूसरी भाषा के शब्द के माध्यम से दर्शाना असंभव है, क्योंकि तत्सम या तद्भव शब्द होकर भी एक भाषा किसी दूसरी भाषा के शब्द अपनाने के बाद अपनी संस्कृति का विशेष अर्थ उस शब्द को प्रदान करती है। इसलिए भाषा के प्रत्येक शब्द के अंदर उस शब्द की संस्कृति छिपी रहती है। शब्द की संस्कृति के उद्घाटन के बाद ही उस शब्द का असली अर्थ निकाल सकते हैं।

संदर्भ सूची

1. अलगियवन्न, पुवसति (2004) अलगियवन्न संस्कृत-सिंहल शब्दकोश, कोलंबो 10: सूर्य प्रकाशन।
2. दुबे, शामचरण (2016) मानव और संस्कृति, नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन।
3. द्विवेदी, कपिलदेव (1921) भाषाविज्ञान और व्याकरणदर्शन, इलाहबाद: हिंदुस्थानी एकेडेमी।
4. प्रसाद, कालिका, सहाय, राजवल्लभ और श्रीवास्तव मुकुन्दीलाल (1952) बृहत हिंदी कोश, वाराणसी: ज्ञानमंडल लिमिटेड।
5. शर्मा, रामकिशोर (2007) भाषाविज्ञान हिंदी भाषा और लिपि, अलहबाद: लोकभारती प्रकाशन।
6. शर्मा, रामविलास (1961) भाषा और समाज, नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन।
7. सक्सेना, बाबुराम (1947) सामान्स भाषाविज्ञान, प्रयाग: हिंदी साहित्य सम्मेलन।